प्रेत–छाया

दीपक शर्मा

प्रेत-छाया

'माई आइज मेक पिक्चर्स वेन दे आर शट,' (मेरी आँखें चित्र बनाती हैं जब वे बंद होती हैं) कोलरिज ने एक जगह कहा था।

https://www.hindiadda.com/pret-chhaya/

वे चित्र किस काल के रहे होंगे?

विगत व्यतीत के?

सामने रखे वर्तमान के?

आगामी अनागत के?

अथवा वे मात्र इंद्रजाल रहे? बिना किसी वास्तविक आधार के? बिना अस्तित्व के?

जो केवल कल्पना के आह्वान पर प्रकट हुए रहे?

या फिर वे स्वप्न थे जिनके बिंब-प्रतिबिंब चित्त में अंकित किसी देखी-अनदेखी ने सचित्र किए?

योगानुसार चित्त की पाँच अवस्थाएँ हैं : क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र एवं निरुद्ध। मैं नहीं जानता, मेरा चित्त आजकल कौन-सी अवस्था से गुजर रहा है, किंतु निस्संदेह सत्तासी वर्ष की अपनी इस आयु में जिंदगी मेरे साथ पाँव घसीटकर चल रही है...

यथासमय विराम चिन्ह भी लगाएगी, मैं जानता हूँ...

मेरा घूँट, मेरा कश, मेरा निवाला, मेरा श्वास बीच में रोक देगी और पारलौकिक उस विभ्रंश घाटी में मुझे ले विचरेगी जहाँ समय का हिसाब नहीं रखा जाता... किन्हीं भी लकीरों में पड़े बिंदु अपनी-अपनी जगह छोड़कर एक ही दायरे में आगे-पीछे घूम सकते हैं, घूम लेते हैं...

'उस दिन यह मुँडेर न थी, क्या वह हवा की सीटी थी?

या जाई के रेशमी गरारे की सनसनाहट?

आज सत्तर साल बाद भी यह बुझौअल लाख बुझाने पर भी अपना हल मुझसे दूर ही रखे है...

मेरे चित्त में कई-कई कुंडल बनाए बैठी है...

'गोकुल नाथ,' उन्नीस सौ अट्ठाईस की उस दोपहर मेरे पिता ने मुझे पुकारा है...

तीसरी मंजिल के अपने आँगन से, जिसकी छत के बीचोंबीच पाँच गुना पाँच वर्ग फीट की कतली में लोहे के लंबे सीखचे समाविष्ट हैं; इस युगत से हमें भिन्न मंजिलों पर होते हुए भी एक-दूसरे से बात करने की सुविधा बनी रहती है...

'जी बाबूजी,' इधर अपने चेचक के कारण मेरा डेरा चौथी मंजिल की सीढ़ियों की छत के भुज-विस्तार के अंतर्गत बनी बरसाती में है, जिसकी एक खिड़की इस चौमंजिली इमारत की छत के सीखचों से दो फुट की दूरी पर खुलती है। खिड़की से तीसरी मंजिल के आँगन में खड़े व्यक्ति से वार्तालाप स्पष्ट और सहज किया जा सकता है...

'आज कैसी तबीयत है?'

'दुरुस्त है।'

'बुखार है?'

'नहीं मालूम। वैद्य जी ही रोज दोपहर में मेरी नाड़ी देखकर तय करते हैं, मुझे बुखार है या नहीं।'

'वैद्य जी आज नहीं आ पाएँगे। बाहर खलबली है। सड़क पर जुलूस आ रहा है।'

इतिहासकार जानते हैं, सन उन्नीस सौ उन्नीस के गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट द्वारा स्थापित भारतीय संविधान की कार्यप्रणाली पर रिपोर्ट तैयार करने हेतु स्टेनले बाल्डविन की कंजरवेटिव ब्रिटिश सरकार ने नवंबर उन्नीस सौ सत्ताईस में एक दल का संगठन किया था, जिसका नाम था - साइमन कमीशन। इसमें सात सदस्य नामित किए गए थे : चार कंजरवेटिव पार्टी के, दो लेबर पार्टी के और एक लिबरल पार्टी का। अध्यक्ष रखे गए थे दो : सर जॉन साइमन और क्लीमेंट एटली, जो बाद में ब्रिटेन के प्रधानमंत्री भी रहे। इस कमीशन को भारत का दौरा करने के बाद ही अपनी रिपोर्ट देनी थी किंतु जब यह दल हमारे देश में आया तो कांग्रेस पार्टी समेत कई राजनीतिक पार्टियों ने इसका जमकर विरोध किया था। सभी को आपत्ति थी कि इस कमीशन में एक भी भारतीय क्यों नहीं रखा गया था? फलस्वरूप जहाँ-जहाँ यह दल अपनी रिपोर्ट के लिए सामग्री एकत्रित करने जाता वहाँ-वहाँ काली झंडियों के साथ नारे लगाए जाते - 'गो बैक साइमन, गो बैक...'

उस दिन वह दल हमारे कस्बापुर में आया है...

'जी, बाबूजी...'

'कितना भी, कैसा भी शोर क्यों न हो, मुँडेर पर मत जाना। भीड़ को तितर-बितर करने के वास्ते पुलिस हथगोले फेंक सकती है, गैस छोड़ सकती है, गोली चला सकती है...'

'जी, बाबूजी...'

'वैद्य जी ने तुम्हारे लिए एक पुड़िया भेजी है, खिलावन के हाथ। तुम्हारे पास भेज रहा हूँ। पानी के घोल में इसे पी जाना...'

उन दिनों खाना भी मुझे इसी खिलावन के हाथ यहीं चौथी मंजिल पर भेजा जाता था। अपने चेचक के कारण पहली मंजिल वाला मेरा कमरा मुझसे छूट गया था। मेरे पिता कपड़े के थोक व्यापारी थे और भू-तल वाली मंजिल के अगले आधे हिस्से में अपनी दुकान खोले थे और पिछले आधे हिस्से में अपना गोदाम रखे थे। पहली मंजिल पर मेरे दादा के और मेरे कमरे के अलावा बैठक थी और मंदिर था। दूसरी मंजिल पर रसोई और मेहमान कमरे। तीसरी मंजिल पर मेरी सौतेली माँ अपनी पाँच बेटियों के साथ अड्डा जमाए थीं। छूत के डर से उन्हीं ने मेरा कमरा मुझसे छुड़वा रखा था। खाना मुझे खिलावन की निगरानी में खिलाया जाता। शुरू में मैंने खिलावन से कहा भी कि वह खाना रखकर चला जाए, मैं थोड़ी देर में खा लूँगा, लेकिन खिलावन ने सिर हिला दिया, 'हमें ऐसा हुक्म नहीं। बहूजी कहती हैं, आपके खाने के समय हमें आपके पास खड़े रहना है।' हाँ, कितना मैं खाता या न खाता, इससे उसे कुछ लेना-देना न रहता। जैसे ही मैं उसकी ओर अपनी थाली बढ़ाता, हाथ बढ़ाकर वह थाली लेता और वापस चला जाता।

पुड़िया लेकर मैं अभी बिस्तर पर लेटने ही जा रहा हूँ कि नीचे सड़क से एक हुल्लड़ मुझ तक पहुँचा है...

अपने पिता का कहा बेकहा मानकर मैं मुँडेर की ओर लपक लेता हूँ...

'गो बैक साइमन, गो बैक,' ढेरों नारे हवा में गूँज रहे हैं...

जभी सड़क की दिशा से एक मेघ-गर्जन ऊपर मेरी मुँडेर पर धुँधुआता है... अंधाधुंध मेरे गिर्द फिरकता है...

मेरी आँखों के वार पार नीर जमा करने लगता है...

मेरी चेचक के ग्यारहवें दिन के पोले उभार टीस मारकर टपकने लगते हैं...

मेरे चेहरे के फफोले मेरी आँखों की तरह बह रहे हैं...

मुँडेर की दीवार में चुने गए तराशीदार पत्थर की ओट में मैं बैठ लेता हूँ...

'गो बैक... गो बैक...'

यकबयक मुकायश वाला एक नीला दुपट्टा अंधी हो रही मेरी आँखों के सामने लहराता है...

छत पर बिजली चमक उठती है...

बिजली मेरे पास आती है...

'गो बैक... गो बैक... तब यह मुँडेर न थी...'

चौंककर मैं अपनी आँखें मुलमुलाता हूँ...

सात साल पहले जब मेरे पिता ने दूसरी शादी की थी तो मेरी सौतेली माँ के साहूकार पिता ने शादी की एक ही शर्त रखी थी, अपनी छत पर पहले चार फीट ऊँची और डेढ़ फीट चौड़ी चौहद्दी मुँडेर खड़ी करवा लो...

'गो बैक... गो बैक,' क्या यह नीचे की भीड़ की ध्वनि की प्रतिध्वनि है?

फिर सीढ़ियों से ये कौन कदम धब-धब ऊपर आ रहे हैं?

'लड़की को तू सँभाल नहीं सकती थी तो उसे साथ लेकर गई ही क्यों?' मेरे पिता चिल्ला रहे हैं...

सात साल पहले भी क्या सुनी रही मैंने यही चिल्लाहट?

जिस दोपहर मेरी जाई खुली छत से नीचे जा गिरी रही...

जिस सुबह मंदिर में एक पर्व रहा और देवी-दर्शन के लिए जाई के साथ बहन और मैं जल्दी ही एक रेले का भाग बन गए रहे... जाई ने हम दोनों के हाथ कसकर पकड़े रहे, लेकिन रेले में से किसी ने बहन का हाथ माँ के हाथ से जबरन छुड़ा दिया रहा... कई खुले दरवाजों की कई खुली दहलीजों पर जाई और मैं लौट-लौट गए रहे, नमन कर रहे कितने ही शीर्षों और हाथों से बचते हुए, कितने ही कंधों और घुटनों से टकराते हुए... लेकिन बहन हमें नहीं मिली रही...

बढ़कर मैंने जाई के दुपट्टे को अपने हाथों में कस लेना चाहा है...

मगर एक पलटा खिलाकर मुझे जमीन पर पटक दिया गया है...

जाई का लहरा रहा दुपट्टा और गरारा मुझसे दूर जा छिटका है...

'जाई... जाई... जाई,' मैं चीख रहा हूँ, चिल्ला रहा हूँ...

रिस रहे अपने फफोलों के साथ...

टपक रही अपनी आँखों के साथ...

सीढ़ियों से कई कदम धब-धब ऊपर आ रहे हैं...

'खिलावन,' मेरे पिता कह रहे हैं, 'भैयाजी को उनके कमरे में इधर लाओ। फौरन।'

'आपने जाई को छत से नीचे क्यों फेंका, बाबूजी?' मैं विलाप करता हूँ...

'लड़के के मुँह पर पट्टी बाँध दो, खिलावन,' मेरे पिता आदेश देते हैं।

'बुखार इसका कुछ ज्यादा ही ठुनक रहा है...'

'शीतला माता के स्पर्श की माया है, लाला जी,' रिश्ते में खिलावन वैद्य जी का सगा भतीजा है और उन्हीं की तरह मेरे पिता के संग निर्भीक बात कहने में झिझकता नहीं, 'जो भैयाजी को उत्पात की दिशा में प्रवृत्त कर रही है। नंदराम क्या कह गए हैं -

गत अभिमान न यह सुखल हैं

देहादिक को मायक कहैं

'मेरी मानिए लाला जी, मंत्र फूँककर कोई चीज शीतला मंदिर में चढ़वा दीजिए...'

'अभी पहले तो तुम अपने चाचा ही को लिवा लाओ। वही कुछ उपाय कर लें पहले...'

अपने पिता से मैंने फिर कुछ न पूछा।

अपने से ही पूछता रहा हूँ। अहोर-बहोर।

सन उन्नीस सौ अट्ठाईस की उस दोपहर क्या जाई ही छत पर आई रहीं? अपनी मृत्यु का भेद उगलने?

या फिर सात साल पहले जिस भेद को मेरे सहम ने मेरे चित्त की किसी परत में पीछे धकेल दिया था, उस दोपहर वह अचानक मेरे सामने आ खड़ा हुआ था?

एक चलचित्र की तरह?